JETIR.ORG ISSN: 2349-5162 | ESTD Year : 2014 | Monthly Issue
JOURNAL OF EMERGING TECHNOLOGIES AND INNOVATIVE RESEARCH (JETIR)
An International Scholarly Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

# जीव की अवधारणा

कमला कान्त त्रिवेदी
इतिहास विभाग
बी.आर.अम्बेडकर बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर।

## Abstract(सारांश)

सामान्य रूप से सभी जीव ईश्वर के आभास है। पर इसका आशय यह नहीं कि एक जीव के द्वारा किया गया कार्य दूसरे जीव को फल देगा। आचार्य ने सूर्य प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त द्वारा इसे भलीभाँति स्पष्ट किया है ''जल में पड़ने वाला सूर्य का प्रतिबिम्ब जल के बढ़ने से बढता है और जब जल घटता है, तो वह संकुचित हो जाता है।''

Keywords : जीव, सनातन, चैतन्य, परमब्रह्म, अशक्त।

अविद्या अथवा अन्तःकरणोपाधिक चेतन 'जीव' कहलाता है। आचार्या शंकर ने शरीरेन्द्रिय संघात का शासक एवं कर्मफलभोक्ता आत्मा को जीव कहा है। आत्मा की उत्पत्ति प्रतिपादक –

'तथाक्षराद विविधा सोम्यः भावाः,
प्रजायन्ते तत्रा चौवापियन्ति।।''

मुण्डकोपनिषद्

(अर्थात् उसी प्रकार अविनाशी ब्रह्म से नाना प्रकार के भाव (जीव) उत्पन्न होते हैं और उसी में विलीन हो जाते हैं) श्रुति वाक्यों का तात्पर्य उपाधि की उत्पत्ति से है, आत्मा से नहीं। यह कथन नित्य आत्मा में केवल उसका उपचार मात्र है। स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि जो नित्य, शाश्वत आत्मा है, उसकी उत्पत्ति किस प्रकार स्वीकार की जानी चाहिये? इस प्रश्न का उत्तर आचार्य शंकर ने इस प्रकार दिया है कि शारीरिक उपाधियाँ ही उत्पन्न होती है; आत्मा नित्य होने से कभी उत्पन्न नहीं होता। आचार्य ने यह भी बतलाया है कि वेदांतशास्त्र में सृष्टि की किसी अवस्था में जीव की उत्पत्ति का प्रसंग नहीं आया है। उसे अनादि सत्वावान माना गया है, जिसका अभिप्राय यह है कि जीवन आगन्तुक नहीं है, किन्तु एक सनातन सत्ता है, जिसकी व्याख्या उद्भव के रूप में नहीं की जा सकती है। आचार्य परम

ब्रह्म और जीवन में नितांत एकता स्वीकार करते हैं। इसलिये जीव भी शुद्ध, चैतन्य, अकर्ता, विभु, पूर्ण और सर्वशक्तिमान है। किन्तु मायाकृत उपाधियों के सम्बन्ध से वह अपने को अमित से मित, सर्वव्यापी से परिच्छिन्न समझकर अपने आप को कर्ता, भोक्ता तथपा अपूर्ण एवं अशक्त समझने लगता है। इसका परिणाम यह होता है कि वह कर्म के चक्र में फँसकर नाना प्रकार के शुभाशुभ कर्म के संपादन में जुटा रहता है। जीवों को कर्मफल–देनेवाला ईश्वर भी व्यवहार दशा में सत्य है। ईश्वर जीवों के कर्मानुसार उन्हें शुभाशुभ कर्मों का भोग प्रदान करता है। जीव में आत्मचैतन्य के प्रकट होने की तीन अवस्थाएँ हैं – जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति। जाग्रतावस्था में हम संसार के विविध कार्यों में लगे रहते हैं। हम उठते बैठते, खाते–पीते, लिखते–पढते, आते–जाते तथा अन्य प्रकार के व्यवहार करते हैं। स्वप्नावस्था में हमारी इन्द्रियाँ बाहरी जगत से हटकर निश्चेष्ट हो जाती है। उस समय हम निद्रित रहते हैं। उस समय भी चैतन्य विद्यमान रहता है; तभी तो हम स्वप्न में देखे हुए को औन न देखते हुए को, सुने हुए और न सुने हुए को अनुभव करते हैं, नाना देशों में परिभ्रमण करते हैं, अघटित घटनाओं को घटित होते हुए देखते हैं। तात्पर्य यह है कि स्वप्न में इसी चेतन–सत्ता की शक्ति से स्वप्नमयी सृष्टि का निर्माण हो जाता है और उस स्वप्नमयी सृष्टि में जीव सुख–दुःख का अनुभव करता है। सुषुप्ति अवस्था का अर्थ है ऐसी प्रगाढ़ निद्रा, जिस अवस्था में सोया हुआ पुरुष किसी भोग की कामना नहीं करता और न कोई स्वप्न ही देखता है। परन्तु अखण्ड, अद्वितीय और अद्वैत चैतन्य उस अवस्था में साक्षी और द्रष्टा के रूप में विद्यमान रहता है। तभी तो हम सुषुप्ति अवस्था से जाग्रतावस्था में आने पर यह कहते हैं कि आज तो ऐसा सोया कि कुछ भी न जान सका। यदि चेतनतत्व न विद्यमान रहता, तो यह अनुभूति किस प्रकार होती? परन्तु यह चैतन्य जीवोपाधि के कारण परिच्छिन्न सा प्रतीत होता है। परन्तु शुद्ध और अखण्ड चैतन्य इन तीन अवस्थाओं के चैतन्य से तथा अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पंचकोषों के चैतन्य से सर्वथा भिन्न हैं। वह इन सबका प्रकाशक होने पर भी इनसे सर्वथा असंपृक्त है। अतएव आत्मा ब्रह्म के समान ही सच्चिदानन्द रूप है। ब्रह्म जब शरीर ग्रहण कर अन्तःकरण से अवच्छिन्न हे जाता है, तब वह 'जीव' की संज्ञा धारण कर लेता है।

जीव की अन्तमुखी और बहिर्मुखी दो वृत्तियाँ होती हैं। जब वे वृत्तियाँ बहिर्मुखी होती हैं, तब विषयों को प्रकाशित करती हैं और जब वे अन्तर्मुखी होती हैं तब अहंकर्ता को अभिव्यक्त करती हैं। विद्यारण्य स्वामी ने जीवन में विद्यमान चैतन्य सत्ता की उपमा नृत्यशाला में रखे हुए प्रज्वलित दीपक से दी है – ''नृत्यशाला में रखा हुआ दीपक प्रभु (नृत्यशाला के मालिक) को, सभासदों को तथा नर्तकी को समान रूप से प्रकाशित किया करता है। वह किसी के प्रकाश के लिये घटता बढ़ता नहीं है और जब नृत्यशाला में से सब लोग चले जाते हैं, जब वहाँ कोई भी नहीं रहता, तब भी वह वहाँ स्वयं प्रकाशित रहता है। उसी प्रकार जीवन में स्थित वह चैतन्य साक्षी तत्व अहंकार को, बुद्धि को और विषयों को (सुषुप्ति के समय) जब अहंकार आदि कोई कोई भी नहीं रहता, तब भी वह साक्षी पहले की भाँति स्वयं प्रकाशित

रहता है।'' बुद्धि की चंचलता के कारण, जीवन चंचल के कारण, जीवन चंचल के समान प्रतीत होता है। वस्तुतः वह नित्य और शान्त है।

आचार्य शंकर के वेदान्त मतानुसार व्यष्टि और समष्टि में कोई अन्तर नहीं ह। 'व्यष्टि' का अभिप्राय है व्यक्ति विशेष का शरीर और 'समष्टि' का आशय है समूहात्मक जगत्। वेदान्त तीन प्रकार का शरीर मानता है – स्थूल, सूक्ष्म और कारण। इसके अभिमानी जीव के तीन नाम हैं। स्थूल शरीर का अभिमानी जीव 'विश्व', सूक्ष्म का अभिमानी 'तैजस्' तथा कारण का अभिमानी 'प्राज्ञ' कहा जाता है। इसी प्रकार समष्टि के स्थूल शरीर के अभिमानी को विराट् (वैश्वानर), सूक्ष्म के अभिमानी को सूत्रात्मा (हिरण्यगर्भ) और समष्टि के कारण शरीर के अभिमानी को ईश्वर कहा जाता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार 'व्यष्टि' और 'समष्टि' के अभिमानी पुरुष सर्वथा अभिन्न हैं। आत्मा इन तीनों से स्वतंत्र सत्ता है। वेदान्त का परम लक्ष्य हमारी मित (सीमित) जीवसत्ता के अन्तर्भूत चरम सत्य के रूप में इस अमित (असीम) और चिरातन अध्यात्म तत्व की प्रतिष्ठा और इसके साक्षात्कार का जीवन के परम निःश्रेयस् के रूप में प्रतिपादन है। यह मित जीवतत्व, जिसका हमें अपरोक्ष ज्ञान है, इस अखिल व्यापक अध्यात्मतत्व से भिन्न नहीं है। वह उसका अन्तर्निहित सत्य है और एक तीव्र अनुभव की अवस्था में इसका साक्षात्कार अवश्यम्भावी है। जीव के व्यावहारिक स्वरूप को और अमित (अनन्त) ब्रह्म के स्वरूप का भेद व्यवहार और अनुभव का एक साधारण तथ्य है। किन्तु यह भेद आत्यन्तिक भेद नहीं माना जा सकता। आचार्य शंकर ने उनके चैतन्यस्वरूप की समानता पर जोर दिया है। दो चेतन तत्वों की सम्भावना का उन्होंने स्पष्ट निषेध किया है। अन्त में केवल एक ही परम चैतन्य तत्व है, जो अनन्त और व्यापक है और जो सभी पदार्थों को अपने में गुम्फित किये हुए है। अतः हमारी भौतिक सत्ता की मितता का हमारी आध्यात्मिक सत्ता की अमितता से कोई असामंजस्य नहीं है। आत्मा का स्वरूप स्वतंत्र है और स्वतंत्रता का अर्थ है अनन्तता। चेतना के अन्तर्गत एक ऐसा तत्व है जो समस्त चेतना के विषय से अतीत है। वाक्तित्व और मितता की चेतना में एक अनन्त और व्यापक अध्यात्मतत्त्व निहित है, जो उससे सीमित नहीं हो सकता।

आचार्य शंकर के मोक्ष के स्वरूप की कल्पना के विश्लेषण से उक्त कथन को समर्थन हो सकता है। उनके अनुकूल ब्रह्मात्वभाव का साक्षात्कार ही मोक्ष है। यह साक्षात्कार अद्वैतज्ञान स्वरूप है और एक मनोवृत्ति मात्र है। यह मोक्ष कोई अवस्था विशेष नहीं है। यह यहीं इस जीवन और जगत् में ही साध्य है। वेदान्त की समस्त साधन–प्रक्रिया से यह स्पष्ट लक्षित होता है कि मोक्ष व्यक्तिगत साध्य है। किसी ने अभी तक मोक्ष प्राप्त नहीं किया है यह मान्य नहीं वेदान्त शास्त्रों में गुरु को प्रायः ब्रह्मिष्ठ अथवा ब्रह्मनिष्ठ कहा गया है, जिसका अभिप्राय उस व्यक्ति से है, जो ब्रह्म में पूर्णरूपेण संस्थित है। उसकी 'अपथकदर्शी' संज्ञा से यह सिद्ध से यह सिद्ध है कि मोक्ष जीवन और जगत् के प्रति एक आध्यात्मिक दृष्टिकोण है, जिसका शारीरिक सत्ता की मितता और जीवन की क्रियाओं से कोई असमांजस्य नहीं है। लोकसंग्रह के लिये निष्काम कर्म का करना भी आचार्य ने चरम आध्यात्मिक सिद्धि के लिये

संगत ही नहीं, बल्कि मुक्तों के लिये वांच्छनीय माना है। इन सबसे यह सिद्ध होता है न तो उस अनन्त आध्यात्मिक तत्व की परमार्थता का और न हमारी सत्ता के चरम सत्य के रूप में उसके साक्षात्कार का हमारी व्यक्तिमत्ता अथवा शरीर की मितता के साथ कोई असमांजस्य है। यदि मोक्ष ऐसा अनुभव है जो यहाँ और इस जीवन में अपनी सीमित शारीरिक सत्ता का त्याग किये बिना भी प्राप्त किया जा सकता है और आत्मचैतन्य के रूप में जिसकी अभिव्यक्ति होती है, तो यह कहना असंगत होगा है कि मोक्ष एक अतल शून्य गर्त में हमारी सत्ता का विलय है। मोक्ष हमारी व्यक्तिगत सत्ता का एक अवैयक्तिक सत्ता में विलय नहीं है, वरन् एक आध्यात्मिक अनन्तता में इसका विकास है और वही अन्तर्तम सत्य है। अतः हमारी सत्ता का चरम सत्य है आत्मसाक्षात्कार अथवा मोक्षप्राप्ति और वही मानवजीवन का परम पुरुषार्थ है।

आचार्य के अद्वैत मतानुसार जीव का दुःख का अनुभव करना मिथ्याभिमान जनित भ्रम के कारण होता है। जीव अविद्या के वश में होकर अपने को देह से, मन से, बुद्धि से अभिन्न समझ लेता है। परिणाम स्वरूप शरीर आदि के दुःखों को वह अपना ही दुःख मान कर दुखी बन जाता है। अविद्याजनित क्लेश से दुःखी होने वाले जीव के क्लेशों से ईश्वर उसी प्रकार तनिक भी प्रभावित नहीं होता, जिस प्रकार जल से भरे हुए घट में सूर्य के हिलते–डुले हुए प्रतिबिम्ब से सूर्य नहीं प्रभावित होता है। जीवन न तो साक्षात् ईश्वर ही है और न वह वस्त्वन्तर ही है। वह ईश्वर का आभास उसी प्रकार है, जिस प्रकार जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब। एक जलराशि में जब सूर्य का प्रतिबिम्ब कंपित होता है, तो दूसरी जलराशि में पड़ने वाला सूर्य का प्रतिबिम्ब कंपित नहीं होता। इसी प्रकार जब एक जीव कर्म और कर्मफल के साथ सम्बद्ध है, तब दूसरा जीव उसके साथ सम्बद्ध नहीं हो सकता। इसी कारण जो जीव जैसा कर्म करता है, वही उसका फल भोगता है, अन्य जीव नहीं। सामान्य रूप से सभी जीव ईश्वर के आभास है। पर इसका आशय यह नहीं कि एक जीव के द्वारा किया गया कार्य दूसरे जीव को फल देगा। आचार्य ने सूर्य प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त द्वारा इसे भलीभाँति स्पष्ट किया है ''जल में पड़ने वाला सूर्य का प्रतिबिम्ब जल के बढ़ने से बढता है और जब जल घटता है, तो वह संकुचित हो जाता है। जब जल हिलता है, तो वह भी हिलता है। इस प्रकार प्रतिबिम्ब जलधर्म का अनुयायी होता है। पर बिंबस्थानीय सूर्य स्वतंत्र रहता है, उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता है। इसी प्रकार ब्रह्म वस्तुतः विकारहीन है, एक रूप है, परन्तु वह जिन देह, इन्द्रिय और उपाधियों को धारण करता है उनके धर्मों को ग्रहण करता सा प्रतीत होता है। वस्तुतः यह बात है नहीं। अतः जीव ईश्वर के अंश के समान है। वह परमेश्वर का आभास है, प्रतिबिम्ब है। अविद्या के कारण ही जीव शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धि आदि के साथ सम्बद्ध हो जाता है और उसी के फलस्वरूप अनेक प्रकार के कष्टों को भोगता है। परन्तु ईश्वर का इससे कोई सम्पर्क नहीं रहता। जीव जगत् की सृष्टि–रचना करने में असमर्थ है, क्योंकि अविद्या के कारण वह शक्ति तिरोहित हो गयी है।

संदर्भ :–


1. Radhakrishan, S : Indian Philosophy, Oxford, 1922.
2. Devaraj, N.K. : O.P. Cit. An Introduction to Shankar Thay of Knowledge, Delhi. 1972
3. ईशादि दशोपनिषद, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1964
4. गौडपादकारिका, पूना, 1974
5. तर्क संग्रह, दिल्ली
6. ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य, वाराणसी, 1965
7. मुण्डकोपनिषद्, इलाहाबाद, 1993
8. सर्वदर्शन संग्रह, चौखम्भा, वाराणसी, 1984
9. वर्मा उर्मिली, अद्वैत वेदान्त तत्व और ज्ञान, वाराणसी, 1978
10. नयराम मिश्रा, आदि शंकराचार्य जीवन और दर्शन इलाहाबाद, 1984
11. झा, वीणा, शंकर का अद्वैत वेदान्त, पटना
12. Shashi, N. : A Study of Shankar, Calcutta, 1920